ऐतरेयोपनिषद्

पहला अध्याय—पहला खण्ड

ऐतरेय उपनिषद्—ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत है। ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेयारण्यक दोनों महिदास ऐतरेय ऋषि के नाम पर हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (३ । १६ । ७) में लिखा है, कि महिदास ऐतरेय ११६ वर्ष जीता रहा। इस ऋषि के विषय में हम अधिक परिचय ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में देंगे। ऐतरेयारण्यक में पांच आरण्यक हैं। जिन में से चौथा और पांचवां आरण्यक, आरण्यक का असली हिस्सा नहीं, किन्तु वह दोनों आरण्यक आश्वलायन और शौनक ऋषि के सूत्र हैं, जो इस आरण्यक के साथ पढ़ाए जाते थे, और अब वे आरण्यक का एक हिस्सा ही बन गए हैं। पहले आरण्यक में महाव्रत सत्र में जो होता का कर्तव्य है, वह बतलाया है। दूसरा और तीसरा आरण्यक उपनिषद् भाग है। इस में तीन उपनिषद् हैं। दूसरे आरण्यक के पहले अध्याय से लेकर तीसरे तक प्राणविद्या (प्राणोपनिषद्) का विषय है, चौथे से छटे तक ब्रह्मविद्या (ब्रह्मोपनिषद्) है, सातवां अध्याय शान्तिपाठ है। ये सात अध्याय दूसरे आरण्यक में हैं। और तीसरे आरण्यक में संहिता की उपनिषदें हैं। ऐतरेयोपनिषद् के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध वही हिस्सा है, जो ब्रह्मविद्या सम्बन्धी है—अर्थात् दूसरा आरण्यक चौथे अध्याय से लेकर समाप्ति तक,

इसी पर स्वामि शंकराचार्य का भाष्य है। यही हिस्सा हम यहां उपनिषदों में देते हैं। इस से पहले हिस्से में जो प्राण-विद्या बतलाई है, उस में बहुत कुछ रहस्य वर्णन किये हैं, जिन के ज्ञान से बहुत नई बातें मालूम होती हैं। तथापि उन की व्याख्या हम आरण्यक में करेंगे। यहां केवल उतना ही भाग हम देते हैं, जो आरण्यक में से अलग करके उपनिषदों में रक्खा गया है और व्याख्यात किया गया है।

ऐतरेयारण्यक ऋग्वेद सम्बन्धी है, इसी लिए यह उपनिषद् ऋग्वेदीय है।

(१) आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। (२) स ईक्षत 'लोकान्नु सृजा' इति [१] स इमाँल्लोकानसृजत (३) अम्भो मरीचीर्मरमापः (४) अदोऽम्भःपरेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा,ऽन्तरिक्षंमरीचयः, पृथिवी मरो,या अधस्तात् ता आपः (५) [२] सईक्षते मे नु लोका, लोकपालान्नुसृजा, इति। सोऽद्भ्यएव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् (६) [३] तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत, यथाऽण्डम्; मुखाद्वाग्वाचो ऽग्निः, नासिकेनि-

रभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः, अक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशः, त्वङ्‌निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो, हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनो, मनसश्चन्द्रमा, नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानो, अपानान्मृत्युः, शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतो रेतस आपः [४] ॥१॥ ❋

(१) आरम्भ में (सृष्टि से पहले) निःसंदेह यह आत्मा था केवल एक; और कुछ भी आंख झपकता हुआ * (जीवन्त जाग्रत) न था। (२) उसने सोचा 'मैं लोकों को रचूं'? उस ने इन लोकों को रचा (३) अम्भस् (जल) मरीचि (किरणों)

---

* अवान्तर विषय दिखाने के लिए हर एक खण्ड में १, २ आदि अंक दिये गए हैं, उन को हमने इस (ब्रन्धनी) के अन्दर दिखलाया है। शंकराचार्य ने उपनिषद् में आरण्यक के अंकों से कुछ भेद किया है, वे अंक हमने इस [ब्रन्धनी] के अन्दर दिखलाए हैं।

* मिषत्=आंख झपकता हुआ, यह शतृ प्रत्यय का प्रयोग है जैसे ऋग्वेद १०। १९०। २ में है 'विश्वस्य मिषतो वशी' सारे जीवन्त जगत् का मालिक।

मर (मरने वाला) अप (जल) (४)। वह अम्भस् (जल) है, जो द्यौ से परे (ऊपर) है, और जो उस का आश्रय (द्यौ) है, मरीचि (किरणें) अन्तरिक्ष है। मर (मरने वाला) पृथिवी हैं। पानी जो पृथिवी के नीचे है, वह अप (जल) हैं। (५) उसने देखा ' ये हैं लोक, अब मैं लोकपालों (इन लोकों के रखवालों) को रचूं , तब उसने जलों से ही निकाल कर पुरुष (विराट्) को बनाया † (६) उसने उसे तपाया,जब वह तप गया, तो उस का मुख खुला, जैसे अण्डा फटता है, मुख से वाणी निकली, वाणी से अग्नि ‡ । दोनों नासिकाएं खुलीं, नासिकाओं से प्राण § निकला, प्राण से वायु । दोनों आंखें (आंखों के छेद) खुलीं, आंखों से चक्षु (देखने का इन्द्रिय) निकला, चक्षु से सूर्य। कान खुले, कानों से श्रोत्र निकले श्रोत्र से दिशाएं, त्वचा खुलीं, त्वचा से लोम (स्पर्श का इन्द्रिय) निकले, लोमों से ओषधियें और वनस्पतियें । हृदय खुला, हृदय से मन निकला, मन से चन्द्रमा। नाभि खुली, नाभि से अपान निकला, अपान से मृत्यु। शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) खुला, शिश्न से बीज निकला, बीज से जल ॥ १ ॥

† यहां जलों से अभिप्राय सूक्ष्म पांचों भूतों से है और पुरुष से अभिप्राय विराट् देह से है । अमूर्छयत् का अक्षरार्थ है मूर्ति बनाई अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों में से इस स्थूल विराट् देह को बनाया।

‡ यहां तीन वस्तुओं का वर्णन है, इन्द्रिय का अधिष्ठान; इन्द्रिय और देवता (इन्द्रिय का अधिष्ठाता)।

§ प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय। सांस द्वारा घ्राण गन्ध को ग्रहण करता है, इस लिए घ्राण के स्थान प्राण लिखा है।

भाष्य—यह सारी सृष्टि पहले एकरूप थी, और इस में जीती जागती शक्ति केवल एक परम आत्मा था। उस के सिवाय यह सब उस समय सोया हुआ था, जो अब जागता है (आंख झपकता हुआ अर्थात् जाग्रत् है)। उस की इच्छा से यह उस एकरूप से इस भांति २ के रूप में आया, जो अब हमारे सामने है। अर्थात् चारों लोक और उनके पालक देवता इत्यादि। ये सब उस रूप को नाना रूप में बदलने से हुए।

यहां चार लोक ये बतलाये हैं। अम्भः, जिस का अर्थ पानी है, यहां इस से अभिप्राय द्यौ से ऊपर के लोक और द्यौ इन दोनों से है। मरीचि किरणों का नाम है, और यहां अन्त-रिक्ष से अभिप्राय है, क्योंकि अन्तरिक्ष सूर्य की किरणों से भरा हुआ है। मर का अर्थ है मरने वाला। यहां यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि पृथिवी पर सब जन्तु मरने वाले हैं। अप् का अर्थ है पानी, यहां उन पानियों से अभिप्राय है जो पृथिवी के अन्दर वा इर्द गिर्द हैं।

लोकों का विभाग प्रायः तीन ही है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। यहां एक चौथा लोक पृथिवी के अन्दर वा इर्द गिर्द के जलों को अलग माना है। लोक वह है, जहां परमात्मा की प्रजा वास करती है और भोग भोगती है। चाहे, वह प्रजा किसी उच्च अवस्था की है, वा छोटी अवस्था की। जलजन्तु जल में ही रहते हैं और जल ही में उन का भोग है, इस लिए जल उन का लोक (दुनिया) है। इस अभिप्राय से यहां जल को पृथिवी से एक अलग लोक माना है। पर यह लोक उन लोकों में से नहीं है, जो मनुष्य को अपने कर्म और ज्ञान से

मामनो भूत्वा हृदयं प्राविशन् मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापोरेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् [४] (५) तमशनापिपासे अब्रूतामावाभ्या-मभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां दे-वतास्वाभाजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनापिपासे भवतः [५] ।२।

(१) * ये देवता (अग्नि आदि) रचे जाने के पीछे इस बड़े समुद्र † में गिरे। तब उस (आत्मा) ने उस (पुरुष, विराट्) को भूख और प्यास से युक्त किया (२) ‡ (भूख और प्यास से युक्त हुए) उन्हों ने (देवताओं ने) इसे (आत्मा को) कहा हमारे लिये कोई जगह की आज्ञा दो, जिस में

---

* विराट् देह और अग्नि आदि देवताओं की उत्पत्ति दिखला कर अब भोग के योग्य शरीरों की सृष्टि दिखलाने के लिये भूख और प्यास की सृष्टि बतला कर भूख और प्यास को अन्य परिणाम का कारण दिखलाते हैं—

† समुद्र की तरह अत्यन्त विस्तृत विराट् देह में, जहां से निकले थे, अथवा संसार में।

‡ अब छोटे देहों की सृष्टि बतलाते हैं।

हम ठहरें और अन्न खाएं * वह उन (देवताओं) के लिए एक बैल लाया। उन्होंने कहा यह हमारे लिये पर्याप्त (काफी) नहीं फिर वह उन के लिए एक घोड़ा लाया। उन्हों ने कहा 'यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं' तब वह उनके लिये एक पुरुष लाया, तब उन्होंने कहा 'अहो बहुत अच्छा बना है' निःसन्देह पुरुष है जो बहुत अच्छा बना है (३) † उन (देवताओं) को उस (आत्मा) ने कहा 'अपनी २ जगह में प्रवेश कर जाओ' (४) तब अग्नि वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु प्राण बन कर नासिकाओं में प्रविष्ट हुआ। सूर्य चक्षु बन कर आंखों में प्रविष्ट हुआ। दिशाएं श्रोत्र बन कर कानों में प्रविष्ट हुईं। ओषधियें और बनस्पतियें लोम बन कर त्वचा में प्रविष्ट हुईं। चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ। मृत्यु अपान बन कर नाभि में प्रविष्ट हुआ। जल वीर्य बन कर शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) में प्रविष्ट हुए (५) ‡ तब भूख और प्यास ने उसे (आत्मा को) कहा 'हमारे लिये भी (कोई जगह की) आज्ञा दो उसने उनको कहा' तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं (अग्नि) आदि में साथी बनाता हूं, इन्हीं में हिस्सेदार बानाता हूं' इस

---

* अन्न खाने से यहां अभिप्राय शब्द आदि विषयों के उपभोग से है, जो देवताओं के अधिष्ठातृत्व में इन्द्रियों से किया जाता है।

† ईश्वर ने भोग के समर्थ जो शरीर रचे हैं, उन में ईश्वर की प्रेरणा से देवताओं का प्रवेश दिखलाते हैं।

‡ भूख और प्यास का कोई नियत स्थान न दिखला कर सारे शरीर में उन का प्रवेश दिखलाते हैं।

लिये जिस किसी देवता के लिये हवि ग्रहण की जाती है, भूख और प्यास इस में हिस्सेदार होते हैं ॥ २ ॥

भाष्य—इस सारे का तात्पर्य यह है, कि विराट् की रचना के पीछे फिर क्रमशः अपने २ समय पर उस सृष्टि की रचना हुई, जिस में चेतनता का प्रकाश है, और वह दर्जेवार उत्तम से उत्तम बनी है। बैल और घोड़ा ये दोनों इस विषय में उदाहरण हैं। गौ के ऊपर के दान्त नहीं होते, इस लिए वह ऐसे छोटे २ घास (जो जड़ों से कुछ ही ऊपर हैं) को नहीं उखाड़ सकती, जिस को घोड़ा आनन्द से चरता रहता है। ये दोनों उदाहरण के तौर पर दिखलाए हैं, वास्तव में यहां दर्जेवार सारीजीवन्त सृष्टि की उत्पत्ति समझनी चाहिये। इनसब में सब से उत्तम पद पुरुष का है। क्योंकि चेतनता में, और अधिक सुन्दररूप से शब्द आदि के उपभोग करने में, पुरुष के बराबर कोई दूसरा नहीं है। यह विषय इसी आरण्यक में पहले भी आचुका है " वह पुरुष जो आत्मा के अधिक प्रकाश को जानता है, उस का अपना प्रकाश बढ़ जाता है। ओषधियें वनस्पतियें और हरएक प्राणधारी, इन सब में आत्मा अधिक प्रकाश वाला है, क्योंकि ओषधि और वनस्पतियों में रस का सञ्चार दीखता है और प्राणधारियों में चित्त दीखता है। पर इन दोनों में से भी प्राणधारियोंमें आत्मा का अधिक प्रकाश है, क्योंकि उन में तो रस भी दीखता है (और चित्त भी), पर ओषधि वनस्पतियों में चित्त नहीं (केवल रस दीखता है)। पर पुरुष में आत्मा और भी अधिक प्रकाश वाला है, क्योंकि वह ज्ञान में बड़ा अमीर है, वह समझबूझ कर कहता है और समझबूझ कर देखता है, अपने

भविष्यत् को जानता है, लोक और परलोक को जानता है, और उस के पास जो विनश्वर (देह इन्द्रिय) है, उन के द्वारा अमृत को पाने की चेष्टा करता है । यह उसकी सम्पत्ति है । और दूसरे पशुओं को खाली भूख प्यास का ही ज्ञान है । न जान बूझ कर कहते हैं, न जान बूझकर देखते हैं । न भविष्यत् को जानते हैं । न लोक परलोक को जानते हैं । बस वह इतने ही हैं । ये सब जन्म अपनी २ वासना के अनुसार हुए हैं, (ऐत० आर० २ । ३ । २)" ।

अग्नि आदि देवता विराट् देह में ऐसे मार्जित (मंझे हुए) रूप में नहीं थे, और न उन के लिये भोग ही ऐसे उत्तम रूप में थे, जैसे कि वह प्राणधारियों में आकर हुए । और उन में भी सब से बढ़ कर मार्जितरूप में वह पुरुष में आकर हुए । सूर्य का मार्जितरूप नेत्र में प्रविष्ट हो कर देखने की शक्ति देता है, और बाह्य सूर्य उस को देखने में सहायता देता है । ये सूर्य आदि देवता अन्न खाने के लिये पुरुष देह में प्रविष्ट हुए हैं । और उनका अन्न भिन्न २ है । चक्षु का अन्न रूप है, क्योंकि वह रूप को देख कर तृप्त होता है । इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों के विषय में भी जानना चाहिये ।

तीसरा खण्ड ।

(१) स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजाइति [१] सोऽपोऽभ्यतपत्, ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा

मूर्तिरजायतान्नं वै तत् [२] (२) तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोद् वाचा ग्रहीतुम्। सयद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्यैवान्न मत्रप्स्यत् [३] तत्प्राणेनाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत प्राणेन ग्रहीतुं। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्यहैवान्नमत्रप्स्यत् [४] तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं। सयद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वाहैवान्नमत्रप्स्यत् [५] तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं, सयद्धैनच्छ्रोत्रेणाऽग्रहैष्यच्छ्रुत्वाहैवान्नमत्रप्स्यत् [६] तत् त्वचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुं। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वाहैवान्न मत्रप्स्यत् [७] तन्मनसाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं, स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् [८] तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं। स यद्धै-

न्छिश्नेनाग्रहैष्यद् विसृज्यहैवान्नमत्रप्स्यत्[९] तदपानेनाजिघृक्षत्, तदा वयत् (३) सैषोऽन्नग्रहो, यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः [१०](४) स ईक्षत्, कथंन्विदं मदृतेस्यादिति (५) स ईक्षत् कतरेण प्रपद्या इति (६) स ईक्षत, यदि वाचाऽभिव्याहृतं,यदि प्राणेनाभिप्राणितं,यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्नेनविसृष्टमथकोऽहमिति [११] (७) स एतमेव सीमानंविदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत (८) सैषाविदृतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् (९) तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति [१२] (१०) सजातो भूतान्यभिव्यैक्षत्, किमिहान्यं वावदिषादिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् (११) इदमदर्शमिती ३, [१३] तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो हवै

नाम, तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः, परोक्षप्रिया इव हि देवाः [१४] । ३ ।

(१) * उसने सोचा ये हैं लोक और (लोक पाल) । अब इन के लिये अन्न रचूं उसने जलों । (सूक्ष्मतत्वों) को तपाया । जब वे तपे, तो उन से मूर्ति † उत्पन्न हुई । और वह मूर्ति जो उत्पन्न हुई, वह अन्न है । (२) ‡ अब यह अन्न रचा

---

* भोग के साधन (इन्द्रिय) और भोग के अधिष्ठान (गौ घोड़ा, मनुष्य आदि के शरीर) की सृष्टि दिखला कर अब भोग्य सृष्टि दिखलाते हैं । यहां भोग्यसृष्टि को पीछे दिखलाने से यह तात्पर्य्य नहीं है कि भोक्ता जो थे, वह पहले रचे गए और भोग्य सृष्टि पीछे रची गई, किन्तु दोनों के अलग २ दिखलाने में तात्पर्य्य है । क्रम में तात्पर्य्य नहीं ।

† मूर्ति=भोग्य के योग्य आकार । ओषधियें और फल मनुष्य के लिये और चूहे आदि बिल्ली आदि के लिये ॥

‡ पहला जो भोक्तृवर्ग था, उसने जिस साधन से अन्न को अपने जीवन की रक्षा का साधन बनाया, उस साधन का अन्वयव्यतिरेक द्वारा निश्चय करते हैं । आदि भोक्तृवर्ग ने जब अन्न को खाना चाहा, तो अन्न उस से भाग गया । यहां यद्यपि जंगम अन्न का भागना होसकता है, स्थावर का नहीं, तथापि भोक्तृवर्ग के शरीर के अन्दर वह प्रविष्ट नहीं हुआ, किन्तु बाहर ही ठहरा रहा इस में तात्पर्य है ॥

गया, तो इसने परे भाग जाने की चेष्टा की । उसने (अन्न खाने वाले ने) इस (अन्न) को वाणी से पकड़ना चाहा । वह इस को वाणी से नहीं पकड़ सका । यदि वह इसे वाणी से पकड़ लेता, तो (अब भी मनुष्य) अन्न का नाम लेकर ही तृप्त होजाता । फिर उसने प्राण (घ्राण) से उस को पकड़ना चाहा । वह इसे घ्राण से नहीं पकड़ सका । यदि वह इसे घ्राण से पकड़ लेता, तो मनुष्य अन्न को सूंघ कर ही तृप्त हो जाता । फिर उसने इसे आंखों से पकड़ना चाहा । वह इसको आंखों से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को आंखों से पकड़ लेता, तो देख कर ही अन्न को तृप्त हो जाता । फिर उसने इस को कानों से पकड़ना चाहा । वह इस को कानों से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को कानों से पकड़ लेता, तो सुन कर ही अन्न को तृप्त हो जाता । उसने इस को त्वचा से पकड़ना चाहा । वह इस को त्वचा से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को त्वचा से पकड़ लेता, तो छूकर ही अन्न को तृप्त हो जाता । उसने इस को मन से पकड़ना चाहा, वह इस को मन से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को मन से पकड़ लेता । तो अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता । उसने इस को शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) से पकड़ना चाहा । वह इस को शिश्न से नहीं पकड़ सका । यदि इसे शिश्न से पकड़ लेता, तो अन्न को (बीज की नाईं) त्याग कर ही तृप्त होजाता । अब उसने इस को अपान से पकड़ना चाहा । उसने इसे पकड़ लिया । सो

'तदेनदभि सृष्टं नदत् पराङ् त्यजिघांसत्' इस पाठान्तर का यह अर्थ है, कि अन्न जब भोक्तृवर्ग के सामने छोड़ा गया तो उसने चीखते हुए परे भागने की चेष्टा की ॥

यह वायु* (पकड़ने वाला) है, जो अन्न का ग्रहण करने वाला है। और वायु (अपान) निःसन्देह अन्नायु है (अन्न के रस द्वारा आयु का हेतु है, अन्न से जीता है और जीवन देता है)

(४) † उसने सोचा ' कैसे यह सब (देह, इन्द्रिय आदि) मेरे बिना हो सकता है ?

(५) और तब उसने सोचा ' किस मार्ग‡ से मैं इस में प्रवेश करूं ' ?

---

* जैसा कि वर्तमान में हम देखते हैं, कि वाणी शब्द का उच्चारण कर सकती है, परन्तु अन्न का नाम लेने मात्र से तृप्ति नहीं होती, और न वाणी में बोलने के सिवाय अन्न को खींचने का सामर्थ्य है। इस से यह अनुमान होता है कि आदि सृष्टि में भी अन्न को देख कर भोक्तृवर्ग के मुख से जो शब्द निकला, उससे उनकी तृप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों के विषय में जानना चाहिये, अन्ततः अपान से उसने अन्न को ग्रहण किया। यहां अपान से-अभिप्राय उस वायु से है, जो अन्न को मुख द्वारा निगलने में सहायता करता हुआ अन्तर्मुख वायु है और जो अन्त में अन्न के असार को निचले इन्द्रियों और रोमों द्वारा बाहर निकाल देता है।

वायु, वी धातु से है। वी=ग्रहण करना, खाना—

† देह, इन्द्रिय और अन्न की सृष्टि दिखला कर आत्मा का प्रवेश दिखलाते हैं।

‡ अन्दर प्रवेश करने के दो मार्ग हैं। एक पादाग्र, जिस से देह में प्राण प्रविष्ट हुआ है (देखो ऐत० आर० २।१।४।११) और दूसरा सिर में स्थित ब्रह्मरन्ध्र॥

(६) और तब उसने सोचा 'यदि वाणी ने (बिना मेरे) बोल लिया, यदि प्राण ने सूंघ लिया, यदि नेत्र ने देख लिया, यदि श्रोत्र ने सुन लिया, यदि त्वचा ने छू लिया, यदि मन ने सोच लिया, यदि अपान ने निगल लिया, यदि प्रजननेन्द्रिय ने (उत्पत्ति का बीज) छोड़ दिया, तब मैं क्या हूं ?'

(७) तब उसने इसी सीमा (हद्द, चोटी अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र) को फाड़ा (खोला), और वह इस द्वार से प्रविष्ट हुआ * ।

(८) यह द्वार विदृति नाम है और यह नान्दन (आनन्द की जगह) है †

(९) उस के (ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रविष्ट हुए आत्मा के) रहने की जगह तीन हैं, तीन स्वप्न हैं: (एक) यह (आंख) रहने की जगह है, (दूसरी) यह (कण्ठ) रहने की जगह है,

---

* आत्मा ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट हुआ है इस लिये मूर्धा में ज्ञानेन्द्रियों की अधिकता है और प्राण पाद से प्रविष्ट हुआ है इस लिये कण्ठ से अधोभाग में कर्मेन्द्रियों की अधिकता है (सायण) । यहां शंकरभाष्य के अनुसार 'द्वारा इमं लोकं प्रापद्यत' ऐसा पाठ प्रतीत होता है ॥

† आत्मा ने अपने प्रवेश के लिये इस द्वार को स्वयं प्रीतिपूर्वक फाड़ा है, इस लिये इस का नाम विदृति है । और इस द्वार से निकल कर आत्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है, इस तरह पर यह द्वार आनन्द का हेतु होने से नान्दन है ॥

(तीसरी) यह (हृदय) रहने को जगह है * ।

(१०) जब वह जन्मा, तो उसने सब भूतों (जन्तुओं) पर दृष्टि डाली, कि क्या वह यहां किसी दूसरे का ढंढोरा दे सकता है† ? उसने केवल इसी पुरुष को देखा, जो बहुत बड़ा

---

* यहां तीन स्थान यह हैं—दाईं आंख, जाग्रत का स्थान। कण्ठ, स्वप्न का स्थान, और हृदय, सुषुप्ति का स्थान। ये तीनों, स्वप्न इस लिये हैं, कि स्वप्न की नाईं आत्मा इन तीनों में अपने स्वरूप को भूला हुआ होता है। तुरीय में वह अपने स्वरूप को जानता है ॥

स्वामी शंकराचार्य ने तीन स्थान, दाईं आंख, मन और हृदयाकाश लिये हैं, इस पर आनन्दगिरि ने मन से अभिप्राय मनका अधिकरण कण्ठ ही लिया है। दूसरा अर्थ शंकराचार्य ने तीन स्थानों से अभिप्राय पितृशरीर, मातृशरीर और स्वशरीर लिया है (जैसा इसी उपनिषद् में अगले अध्याय में कहेंगे)। अर्थात् आत्मा के प्रतिदिन के व्यवहार जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आंख, कण्ठ और हृदय में होते हैं। और जन्मान्तर का ग्रहण पिता आदि के द्वारा होता है ॥

† 'किमिहान्यं वावदिषत्' शंकराचार्य ने इस पाठ की व्याख्या नहीं की। इस पर आनन्दगिरि लिखता है, कि यह वचन स्पष्ट है, इस लिये व्याख्या नहीं की। अथवा लिखने वालों के प्रमाद से छूटगई है। आनन्दगिरि इस का यह अर्थ करता है, उसने भूतों को ही अपना आप जाना, तब वह इस शरीर में अलग आत्मा को कैसे कहता, किन्तु अलग आत्मा को नहीं कहा न जाना। इस के पीछे वह फिर दूसरा अर्थ

फैला हुआ ब्रह्म है (११) (उसने कहा) 'यह मैंने देख लिया' इसलिये उसका नाम इदन्द्र (इसका देखने वाला) हुआ। इदन्द्र यह नाम है। यह जो (नाम से) इदन्द्र है, उस को परोक्ष करके (छुपा कर, गुह्य नाम से) इन्द्र कहते हैं। क्योंकि देवता परोक्ष को प्यार करने वाले हैं, हां परोक्ष को प्यार करने वाले हैं॥

दूसरा अध्याय--पहला खण्ड

(१) अपक्रामन्तु गर्भिण्यः (२) पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः [१] (३) तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवा-

---

लेता है कि उसने शरीर में प्रविष्ट होकर इन सब भूतों पर दृष्टि डाली कि क्या इनमें स्वतः सत्ता है वा नहीं, यह विचारा। और विचार कर यह निश्चय किया, कि आत्मा से भिन्न स्वतः सत्ता वाला मैं किस को कहूं अर्थात् आत्मा से भिन्न मैं कुछ नहीं कह सकता, यह निश्चय किया। पर यहां पहला अर्थ तब ठीक हो सकता है जो 'वावदिषत्' के आगे जो इति शब्द है वह 'किम्' से पहले हो, और दूसरा अर्थ तब ठीक हो सकता है, जो 'अन्यं' की जगह 'अन्यत्' पाठ हो। सायण ने 'वाव-दिषत्' का अर्थ 'वदिष्यामि' लिया है। इस में पूर्व कर्त्ता का सम्बन्ध नहीं रहता। सो वावदिषत्-यङ्लुगन्त लेट् का प्रयोग है॥

त्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियांसिञ्चत्यथैनज्जन-
यति। तदस्य प्रथमं जन्म। [२] (४) तत्
स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथास्वमङ्गं तथा,
तस्मादेनां न हिनस्ति (५)साऽस्यैतमात्मान-
मत्रगतं भावयति [३] सा भावयित्री भाव-
यितव्या भवति (६) तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सो-
ऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति [४]
(७) स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्या-
त्मानमेवैतद्भावयति (८) एषां लोकानां सन्त-
त्या एवं सन्तता हीमे लोकाः (९) तदस्य द्वि-
तीयं जन्म [५] (१०) सोऽस्यायमात्मा पुण्ये-
भ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते [६] (११) अथास्या-
यमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति (१२)
स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म
[७] (१३) तदुक्तमृषिणा (१४) गर्भे नु

सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधःश्येनो जवसा निरदीयमिति। (१५) गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच [८] स एवंविद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वउत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्॥४*॥

(१) † गर्भिणी (स्त्रियें) चली जाएं (२) ‡ निःसंदेह, पुरुष में यह (आत्मा) पहले गर्भ (के तौर पर) होता है, जो यह वीर्य (कहलाता) है (३) यह (वीर्य) जो (मनुष्य के शरीर के) सारे अंगों से तेज इकट्ठा हुआ हुआ है,

---

* यद्यपि दूसरे अध्याय का यह पहिला खण्ड है, पर उपनिषद् के आरम्भ से यह चौथा खण्ड है। इस लिये यहां चौथा अंक दिया है । इस रीति पर उपनिषद् के सारे छः खण्ड मिला कर आत्मषट्क कहा जाता है॥

† आरण्यक के इस अध्याय का उपदेश देते समय गर्भिणी स्त्रियों को वहां से अलग कर देना चाहिये, यह बात 'अपक्रामन्तु गर्भिण्यः' इस वाक्य से बोधन की है। यह वाक्य कई पुस्तकों में शीर्षक के तौर पर दिया गया है॥

‡ पहले अध्याय में मानुषी सृष्टि दिखलाई है, अब दूसरे अध्याय में दिखलाएंगे, कि मनुष्य जन्म जन्मान्तरों में

इस आत्मा * को वह (पुरुष) अपने शरीर में (गर्भ के तौर पर) धारण करता है । उस (वीर्य) को जब वह (पुरुष) स्त्री में डालता है, तब वह (पिता) इस (अपने गर्भ भूत) को जन्म देता है । यह (पुरुष के अन्दर से निकलना) इस (वीर्य में स्थित जीव) का पहला जन्म (कहलाता) है ॥

(४) (अब स्त्री में प्रविष्ट हुआ) वह (वीर्य) स्त्री का आत्मा (अपना आप, अपना शरीर) बन जाता है, जैसे उस का अपना अंग । इस लिये वह इसे पीड़ा नहीं देता (५) वह (स्त्री) इस (पति) के इस आत्मा (पुत्र) को अपने अन्दर पोषण करती है । वह जो पोषण करने वाली है, उसका पोषण किया जाना चाहिये (६) स्त्री उस गर्भ को धारण करती है, और वह (पिता) बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है † (७) वह जो बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है, वह वास्तव में आत्मा (अपने आप) को

घूमता घूमता अन्ततः सारे बन्धनों को तोड़ कर अमृत हो जाता है और प्रसंग से यह भी दिखलाएंगे, कि पिता का पुत्र की ओर क्या कर्तव्य है अथवा यह कि मनुष्य किस तरह उत्तम बन सकता या बनाया जा सकता है ॥

* पुत्र मनुष्य का अपना आत्मा है और पत्नी भी अपना आत्मा है । देखो० ऐत० आर० २ । ३ । ७ ॥

† पहले अपने शरीर में रक्षा करने से, और फिर गर्भ की अवस्था में उस की माता का पोषण करने से, और बच्चे का भरण पोषण करने से और जन्म से पहले और पीछे के जो

ही बढ़ाता है (८) इन लोकों (मनुष्यों) के प्रवृत्त (जारी) रखने के लिये । क्योंकि इस प्रकार यह लोक जारी रहे हैं (नहीं तो टूट जाते) (९) यह (माता के शरीर से बाहर आना) इस का दूसरा जन्म है (१०) ॥

अब इस (पिता) का यह आत्मा (पुत्ररूप आत्मा) पुण्य कर्मों (के पूरा करने) के लिये इस की जगह खड़ा हो जाता है (११) इस का यह दूसरा आत्मा (पिता), जो अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है, और अपनी आयु (के पूरे परिमाण) को पहुंच गया है, चल देता है (१२) वह यहां से चलते ही फिर जन्म लेता है । यह इस का तीसरा जन्म है † ॥

सो ऋषि ने कहा ' गर्भ में होते हुए ही मैंने इन देवताओं के जन्मों का पता लगा लिया है । सौ लोहे के पुरों (किलों) ने मुझे (बंद) रक्खा, पर मैं ऐसे वेग से निकल आया हूं, जैसे बाज (निकलता है ‡) (१५) गर्भ में ही लेटे

संस्कार हैं, उन के पूरा करने से, पिता सर्वदा पुत्र को बढ़ाता है-जन्म से पहले भी और पीछे भी ॥

† यहां पहले दो जन्म पुत्र के दिखलाए हैं । और अब यह तीसरा पिता का दिखलाया है । इस लिए कि जन्मता पुत्र है और मरता पिता है । इसी तरह पुत्र भी अपनी बारी में पिता बन कर तीसरा जन्म लेता है । और पिता भी अपने समय में पहले दो जन्म ले चुका है ॥

‡ ऋग्० ४ । २७।१ आशय यह है कि गर्भ में होते हुए अर्थात बार २ जन्म ग्रहण करते हुए ही मैंने असली तत्त्व को

हुए वामदेव ने यह इस प्रकार कहा। और वह इस प्रकार जानता हुआ, शरीर छोड़ने के पीछे ऊपर चढ़कर, और उस स्वर्ग लोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त हो कर, अमृत हो गया, हाँ (अमृत) हो गया* ॥ ४ ॥

भाष्य—आत्मा सब से पहले पिता के शरीर में प्रवेश करता है। यहां वह बीज में वास करता है। यह बीज उस के आने वाले जीवन का बीज है इस लिये पिता का कर्तव्य है, कि वह इस बीज को पुष्ट करे, क्योंकि यह उस का दूसरा आत्मा है, जिस को उसने पुण्य कर्मों के लिये अपना प्रतिनिधि छोड़ना है। जो वासना पिता के अन्दर हैं वही उस की सन्तान में जाएंगी, क्योंकि बीज वृक्ष के सदृश होता है। तुम यदि स्वयं उच्च बनोगे, तो लोक में एक उच्चता का सिलसिला छोड़ जाओगे। और यही तुम्हारा काम होना चाहिये, दूसरा नहीं ॥

फिर जब इस अपने आत्मा को तुम अपने दूसरे आधे अंग (पत्नी) के पास सौंप देते हो, तब वह इस को नौ दस

पा लिया है। जैसे कोई लोहे के किलों में बन्द किया जाय, इस तरह मुझे अनेक शरीरों ने बन्द रक्खा। पर अब मैं इन बन्धनों को तोड़ कर निकल आया हूं ॥

* यद्यपि यह दूसरे अध्याय का पहिला खण्ड है, परन्तु आरम्भ से चौथा खण्ड है। इसी तरह ये चारों अध्याय के छः खण्ड आत्मषट्क कहलाते हैं, इस आशय से यहां अन्त में ४ का अंक दिया है ॥

महीने अपनी कुक्षि में धारण रखती है। अब यह तुम्हारा दूसरा कर्तव्य है, कि तुम अपनी पत्नी की पूरी २ रक्षा करो। अब तुम्हारी सन्तान जो तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारी पत्नी की आत्मा के साथ एक होरही है। तुम अपनी पत्नी को उच्च संस्कारों से संस्कृत करोगे, तो तुम्हारी सन्तान उच्च संस्कारों को लेकर आएगी। इसी तरह जन्म के पीछे भी तुम्हारा यही काम है, कि उस को ऐसा पुरुष बनाओ, जिसको तुम पुण्य-कर्मों के लिये अपना प्रतिनिधि छोड़ जाओगे। ऐसा करने से तुम अपने कर्तव्य का पालन करके जाओगे। और जैसे तुम यहाँ एक पुण्य का सिलसिला स्थापन कर जाओगे, वैसे ही तुम्हारी अपने आगामि जन्मों की लड़ी पुण्यमयी होजाएगी। जिसका अन्तिम फल यह है, जो इस अध्याय की समाप्ति में दिखलाया है॥

मनुष्य के जब यह तीन जन्म–पिता के शरीर से माता के शरीर में आना, और माता के शरीर से लोक में आना, और इस लोक से दूसरे जन्म में जाना, सुधर जाते हैं, तो वह अपने परम उद्देश्य को पूरा कर लेता है।

तीसरा अध्याय–पहला खण्ड॥

(१) ओं यथास्थानं तु गर्भिण्यः (२) कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा (३) येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति,

येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति [१] यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिःस्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति (४) सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति [२] (५) एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् (६) प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा (७) प्रज्ञानं ब्रह्म [३] (८) स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् । ५ ।

(१) * गर्भिणी (स्त्रियें) अपने २ स्थान पर वापिस चली जाएं । (२) यह कौन† है जिस को हम आत्मा के नाम से उपासते हैं, कौनसा ‡ वह आत्मा है ? (३) क्या जिस से (मनुष्य रूप को) देखता है, वा जिससे (शब्द) सुनता है, वा जिससे गन्धों को सूंघता है, वा जिससे (साधु, असाधु) वाणी को अलग २ करता है, वा जिससे स्वादु और अस्वादु को जानता है ? क्या यह जो हृदय है, और यह मन है ! संज्ञान—[चेतनता, सारे शरीर में फैला हुआ ज्ञान, जिस से मनुष्य चेतन कहा जाता है] आज्ञान [मालिक होना, शरीर और इन्द्रियों पर शासन करने की शक्ति] विज्ञान [समझ]

---

* दूसरे अध्याय के प्रवचन में जो गर्भवती स्त्रियां अलग करदी गई थीं, उनको अब अपने २ स्थान में बैठने की आज्ञा दीगई है ॥

† शंकराचार्य्य ने " कोऽयम् " यह पाठ पढ़ा है, और सायण ने 'को,यम्' यह पढ़ा है । यद्यपि पहले पाठ में ' यम् ' के अध्याहार की आवश्यकता रहती है, तथापि आरम्भ में केवल ' कः ' इस अकेले शब्द से प्रश्न उठाने की शैली नहीं है, इस लिये ' कोऽयम् ' ही समुचित प्रतीत होता है ॥

‡ इस शरीर में एक पाओं के अग्र से प्रविष्ट हुआ है और दूसरा मूर्धा से, इन दोनों में से आत्मा कौनसा है (शंकराचार्य), सोपाधिक और निरुपाधिक इन दोनों में से आत्मा कौनसा है (सायण) ॥

संज्ञान (प्रतिभा, स्फूर्ति, फुरना) मेधा (धारना, दानाई) देखना (इन्द्रियों द्वारा जानना) धामना (जो वृत्ति शरीर को थामे रखती है) मति (ख्याल करना) मनीषा (विचारना) जूति (वेग, प्रयत्न, व्यापार) संकल्प, क्रतु (इरादा) असु (सांस लेना) काम (कामना) और वश (भोग की इच्छा) * ॥

(४) ये सारे ही प्रज्ञान (शुद्ध चैतन्य) के नाम होते हैं † ॥

(५) यह ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति (विराट्) है । ये सारे देवता हैं, पांच महाभूत–पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज, ये छोटे और मिले जुले से ‡ जो बीज (Germs) हैं, तथा और और जो अण्डज (अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि) जरायुज (जेरज, जेर से उत्पन्न होने वाले मनुष्य आदि) स्वेदज (गर्मी से उत्पन्न होने वाले, जूं आदि) और उद्भिज्ज (पृथिवी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले

---

* देखना, सुनना इत्यादि, ये सारी शक्तियें, इस स्थूल देह के चमत्कार हों, यह ठीक नहीं जचता, इस लिये ये प्रश्न किये गए हैं कि जिस से हम देखते हैं क्या वह आत्मा है इत्यादि, यह सारा परिच्छेद प्रश्न वाक्य है ॥

† संज्ञान इत्यादि धर्म केवल जड़ अन्तःकरण के नहीं हो सकते, और न ही देखना आदि धर्म केवल जड़ इन्द्रियों के हो सकते हैं । इस लिये यह धर्म अपने नीचे एक ऐसा अधिष्ठान बतलाते हैं, जो प्रकाश स्वरूप चैतन्य है, और वह प्रकाश इन सारे धर्मों के साथ चमक रहा है, इस लिये ये सारे उसी के कर्म नाम हैं ॥

‡ छोटों से मिले हुए=सांप आदि (शंकराचार्य)॥

वृक्ष आदि) * घोड़े, गौएं पुरुष, हाथी और जो कुछ यह सांस लेने वाला है, (पाओं से) चलने वाला है, उड़ने वाला है, और जो स्थावर है, यह सब प्रज्ञान के नेत्र वाला है (प्रज्ञान से यह रचा दिया जाता है, और प्रज्ञान से ही अपने २ काम में लगाया जाता है) (६) यह प्रज्ञान पर ठहरा हुआ है (इस की बुनियाद प्रज्ञान है), सारा लोक (दुनिया) प्रज्ञान के नेत्र वाला है, प्रज्ञान पर ठहरा है (७) प्रज्ञान ब्रह्म है † ॥

वह (वामदेव) प्रज्ञ (जानने वाले) आत्मा के द्वारा इस लोक से ऊपर चढ़ कर उस स्वर्ग में सारी कामनाओं को पाकर अमृत हो गया, हां वह अमृत हो गया ॥५॥

भाष्य—इस अध्याय में आत्मा का स्वरूप क्या है, इस बात का विचार आरम्भ करके यह दिखलाया गया है, कि वह प्रज्ञान स्वरूप है । और यह प्रज्ञान ही है, जो जन्तुमात्र का आश्रय है, और भिन्न २ स्थानों से अपने भिन्न २ चमत्कार दिखला रहा है । और इन्हीं सब बाह्य चमत्कारों के हेतु से उस के भिन्न २ नाम बन जाते हैं, उस के अपने स्वरूप में कोई भेद नहीं। वह एक है और सारी दुनिया का सहारा है, उस को जान कर पुरुष अपनी सारी कामनाओं को पालेता है और अमृत हो जाता है॥

---

* मिलाओ छान्दो० उप० ६।३।१। वहां स्वेदज अलग नहीं माने गए ॥

† यहां 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह वह वाक्य है जो वेदान्त के चार प्रसिद्ध महावाक्यों में से एक है, जिस को ऋग्वेदीय महावाक्य के रूप में प्रमाण दिया गया है ॥

सातवां अध्याय *-पहला खण्ड ।

ओम्, वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविराविर्म एधि वेदस्य म आणी स्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहो-रात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्या-मि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्ता-रमवतु वक्तारम् ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ६ ॥

मेरी वाणी मन में ठहरे और मेरा मन वाणी में ठहरे [दोनों एक दूसरे पर सहारा रक्खें] [हे परमात्मन्! तू], मेरे लिये प्रकट हो। तुम दोनों [हे वाणी और मन] मेरे वेद के [पहिये को पकड़ने वाले] दो कील हो। जो कुछ मैंने सीखा है वह मत भूले, मैं इस अपने सीखे हुए के साथ दिन रात युक्त होता हूं [दिन रात इस तरह दुहराऊंगा कि कभी न भूले], मैं ऋत कहूंगा। सत्य कहूंगा। वह [ब्रह्म] मेरी रक्षा करे। वह वक्ता [आचार्य] की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी। रक्षा करे वक्ता की रक्षा करे वक्ता की ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ६ ॥

---

* यह सातवां अध्याय शान्तिपाठ का है । इस पर

शान्तिपाठ समेत इस उपनिषद् के छः खण्ड हैं, इन छः को आत्मषट्क कहते हैं ॥

इस उपनिषद् में प्रकट किया है, कि एक ही प्रज्ञान [चैतन्य] सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, जो भिन्न २ स्थानों से भिन्न तौर पर प्रकाशता है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। वही मनुष्य के मूर्धा में प्रविष्ट हो कर इस सारे दृश्य को देखता है। इस से अद्वैत सिद्धान्त को पुष्टि मिलती हुई प्रतीत होती है। हमारा अपना सिद्धान्त द्वैत है। और इसको हम बृहदारण्यक १ । ४ । १० । की व्याख्या में, और उस की भूमिका में, तथा अन्यत्र भी, कई जगह दिखला चुके हैं, पर द्वैतसिद्धान्त में इस की संगति किस प्रकार हो सकती है, यह पूरा हल किये बिना हम कुछ नहीं कह सकते । हां यह कह देना आवश्यक है, कि उपनिषदों में अमर जीवन लाभ करने के जो साधन बतलाए हैं, उन में कोई भेद नहीं है, चाहे द्वैत मानो या अद्वैत। जब तक उनको अपने जीवन में न घटाओगे, कुछ नहीं बनेगा। न द्वैत निस्तारा करेगा न अद्वैत । जो केवल इसी बात पर झगड़ते रहते हैं, और अपने जीवन की सुध नहीं लेते । वह अपने जन्म को व्यर्थ खोरहे हैं। वह कभी औपनिषद् पुरुष के दर्शन नहीं करेंगे। औपनिषद पुरुष औपनिषद् जीवन से मिलते हैं। और औपनिषद जीवन बड़े उदारभावों का जीवन है, वह ईश्वरप्रेम की परा काष्ठा का जीवन है। यह मार्ग कठिन है।

स्वामी शङ्कराचार्य ने भाष्य नहीं किया। सायणाचार्य ने ऐतरेयारण्यक में इस का भाष्य किया है ॥

यहां कोई विरला ही पाओं रखता है 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति' जे तैनूं प्रेम खेलन दा चाव। सिर धर तली गली मोरी आव'। देखो यही उपनिषद् जिस शिष्य को एक पहुंचे हुए आचार्य से उपदेश दी गई है, उस ने ईश्वरप्रेम में रत होकर कैसे नम्रभाव से कैसी मधुमयी प्रार्थना की है। यह ईश्वर के प्रेम में रता हुआ मधुमय जीवन उपनिषद् से लाभ करना है। हां केवल यही लाभ करना है। इस के आगे जो कुछ है, वह अपने आप प्रकाशेगा। तुम्हारी चिन्तना की अपेक्षा नहीं॥

अस्तु, यहां हम ने उपनिषद् का अर्थ बिना किसी फेर फार के साफ २ कहने में अपना कर्तव्य पूरा किया है॥

(समाप्तोऽयंग्रन्थः)

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमेन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत। वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है। भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है। दो भागों में छपा है। प्रथम भाग ६॥) द्वितीयभाग ६।) दोनों भाग १२)

(५) भगवद्गीता—पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) इनाम मिला है। मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।-)

गीता गुटका—सरल भाषा टीका समेत ॥)

(६) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१—ईश उपनिषद	≡)	७—तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
२—केन उपनिषद	≡)	८—ऐतरेय उपनिषद	≡)
३—कठ उपनिषद	।≡)	९—छान्दोग्य उपनिषद	२।)
४—प्रश्न उपनिषद	।-)	१०—बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।=)	११—श्वेताश्वतर उपनिषद	।-)